।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष छठवाँ
अंक छठवाँ

६६

आश्विन
२४७६

पाप, पुण्य और धर्म

संसार में पाप की अपेक्षा पुण्य को अच्छा कहा जाता है, और इससे किसी समय किसी जीव को पाप से छुड़ाने के लिये पुण्य करने का उपदेश ज्ञानी भी देते हैं; किन्तु ज्ञानी उसमें धर्म कभी नहीं मनाते। धर्म की अपेक्षा से तो पुण्य और पाप दोनों बन्ध का ही कारण होने से समान ही हैं, दोनों प्रकार के भाव विकार हैं, आत्मा के अविकारी धर्म से विरुद्ध भाव हैं, इससे दोनों छोड़ने योग्य हैं।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें, पृ. १६१)

एक अंक
चार आना

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

जैन स्वाध्यायमन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

''आत्मधर्म'' मासिक के छठवें वर्ष के ग्राहकों को

दो भेंट -पुस्तकें

हिन्दी 'आत्मधर्म' के चालू वर्ष के ग्राहकों को निम्नानुसार दो भेंट पुस्तकें दी जाएँगी। जिन ग्राहकों का वार्षिक मूल्य कार्तिक शुक्ला एकम तक या उसके पहले आ गया होगा उन्हीं को यह दो भेंट पुस्तकें मिलेंगी।

(१) समयसार पद्यानुवाद – समयसार के मूल सूत्रों का हिंदी पद्यानुवाद, मूल्य ०-४-० यह पुस्तक 'श्री मगनलाल हीरालाल पाटनी दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट, मारोठ (मारवाड़)' की ओर से भेंटरूप में सब ग्राहकों को भेज दी गई है।

(२) मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें – श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों के संक्षिप्त सार का हिन्दी अनुवाद। मूल्य १-२-० यह पुस्तक उपर्युक्त पारमार्थिक ट्रस्ट मारोठ, और श्री जैन स्वाध्यामन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ – दोनों की ओर से संयुक्त भेंट के रूप में भेजी गई है।

इस प्रकार चालू वर्ष के ग्राहकों को १-६-० मूल्य की उपर्युक्त दो पुस्तकें मिलेंगी। आत्मधर्म का वार्षिक मूल्य ३-०-० है; उसमें से इन दो पुस्तकों का मूल्य निकालकर मात्र १-१०-० में आत्मधर्म एक वर्ष तक ग्राहकों को मिला। प्रत्येक जिज्ञासु को आत्मधर्म का ग्राहक होने के लिये नम्र-आग्रह है।

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आश्विन
२४७६

आत्मधर्म

वर्ष छठवाँ
अंक–६

श्रीमद् राजचन्द्र-जन्मस्थान-भुवन

ववाणिया (मोरबी) में

पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन

'अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक्एकान्त–ऐसे निजपद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।'

श्रीमद् के इस एक वाक्य में भरे हुए जैनदर्शन के गहरे रहस्य को पूज्य श्री कानजीस्वामी ने इस प्रवचन में प्रगट किया है। पूज्य गुरुदेव ववाणिया ग्राम पधारे, उस समय 'श्रीमद् राजचन्द्र-जन्म-स्थान-भुवन' में वीर सं० २४७६ के फाल्गुन वदी ३ के दिन यह प्रवचन किया था।

श्रीमद् राजचन्द्रजी का आन्तरिक जीवन था; उसे समझने के लिए अन्तरंग पात्रता की आवश्यकता है। बाह्यसंयोग में विद्यमान होने पर भी धर्मात्मा की अन्तरस्वभाव की दृष्टि कुछ और ही काम करती है। जो संयोगदृष्टि से देखे, उसे स्वभाव समझ में नहीं आता। बाह्य संयोग तो पूर्व प्रारब्ध के निमित्त से होते हैं, परन्तु धर्मी की दृष्टि उन संयोगों पर नहीं होती; अन्तर में आत्मा का स्व-पर-प्रकाशक स्वभाव क्या है–उस के ऊपर धर्मी की दृष्टि है। ऐसी दृष्टिवाले धर्मात्मा का आन्तरिक जीवन आन्तरिक दृष्टि से समझ में आ सकता है; बाह्यसंयोगों पर से उस का माप नहीं होता।

अन्तरंग चैतन्यपद की महिमा वाणी से अगोचर है – उसे बतलाते हुए 'अपूर्व अवसर' में कहते हैं कि–

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहि ते पण श्री भगवान जो...
तेह स्वरूप ने अन्य वाणी तो शुं कहे?
अनुभव गोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो.....

चैतन्य भगवान आत्मा स्व-संवेदन से ज्ञात हो ऐसा है; स्वयं स्व-संवेदन से जाने तो देव-गुरु-शास्त्र को निमित्त कहा जाता है। यदि स्वयं अन्तर में आत्मा को जानने का प्रयत्न न करे तो देव-गुरु-शास्त्र की वाणी के आशय को भी यथार्थरूप से नहीं जान सकता, और उसे देव-गुरु-शास्त्र, निमित्त नहीं कहलाते।

तालाब की जल की सतह बाहर से एक-सी लगती है, लेकिन अन्दर उतरकर गहराई का माप करने से गहराई में कितना अन्तर है, वह ज्ञात होता है। उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के वचन ऊपर से देखने में समान मालूम पड़ते हैं, परन्तु अन्तर का गूढ़ रहस्य देखने में समझ में आता है कि उन के आशय में कितना अन्तर है।

ज्ञानी और अज्ञानी की व्यापार, खान-पानादि बाह्य क्रियाएँ समान दिखायी दें और बाह्य में वस्त्रादि संयोग का अभाव भी कदाचित् समान हो, परन्तु उनकी अन्तर की दशा में आकाश-पाताल जितना अन्तर है, उसका माप बाह्य से नहीं हो सकता। ज्ञानी को पूर्व प्रारब्ध से लाखों के व्यापार का संयोग वर्तता हो और अज्ञानी को कदाचित् पूर्व प्रारब्ध से बाह्यं-संयोग अल्प हों, परन्तु अन्तर में–शरीरादि जड़ की क्रिया मैं करता हूँ–ऐसे पर में अहंपना अज्ञानी के होता है; आत्मा का अनादि-अनन्त ज्ञानस्वभाव निजपद-स्वरूप है, उसका उसे भान नहीं होता और पुण्य-पाप में तथा पर में अहंपद वर्तता है, इससे उस अज्ञानी को प्रतिक्षण अधर्म होता है; और ज्ञानी को अनेक बाह्य संयोग होने पर भी उनके अन्तर में रजकण का भी स्वामित्त्व नहीं है; अन्तरंग चैतन्यस्वभाव के निजपद पर उन की दृष्टि पड़ी है, इससे उन की परिणति प्रतिक्षण निजपद की ओर ही झुकती जाती है। धर्मी-अधर्मी का माप बाहर से नहीं आ सकता।

श्रीमद् ने अपने लेखों में यत्र-तत्र बारम्बार निजस्वरूप की प्राप्ति की पुकार की है। 'मूलमार्ग' में भी कहा है कि –

ते त्रणे अभेद परिणामथी रे, ज्यारे वर्ते ते आत्मारूप .....मूल०
तेह मारग जिननो पामियो रे, किंवा पाम्यो ते निजस्वरूप .....मूल०

सर्वज्ञ का मार्ग और निजपद का मार्ग पृथक् नहीं हैं। जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह तीनों अभेदरूप से आत्मारूप वर्तते हैं, उस समय उस जीव ने सर्वज्ञ के मार्ग को पाया–ऐसा कहो, अथवा निजस्वरूप पाया–ऐसा कहो–दोनों पृथक् नहीं हैं।

जो निजपद अर्थात् आत्मस्वरूप सर्वज्ञ भगवान ने अपने ज्ञान में प्रत्यक्ष जाना, लेकिन वाणी द्वारा पूरा नहीं कहा जा सका, उस पद की महिमा को अन्य वाणी तो क्या कहे? 'अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो'–चैतन्यपद, वाणी से अगोचर और अपने ज्ञान के स्वानुभव से गोचर है।

आत्मा का निजपद तो अपने स्वसंवेदनज्ञान से ही वेदन करने योग्य है–अनुभव करने योग्य है;– इस प्रकार निजपद की महिमा करके, उसके पश्चात् अन्तिम कड़ी में उस पद की प्राप्ति के लिए भावना करते हुए कहते हैं कि –

अेह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में,
गजबगर ने हाल मनोरथरूप जो।
तोपण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो,
प्रभु आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो॥ ....अपूर्व०

ऐसे चैतन्यस्वरूपी निजपद का अपने को भान तो हुआ है, परन्तु अभी पूर्ण प्राप्ति नहीं हुई है, इससे पूर्णता की प्राप्ति की भावना की है और उसकी अवश्य प्राप्ति होगी – ऐसी निःशंकता है।

भडौंच के एक भाई अन्तरदृष्टि बिना बाह्य क्रिया में विधि-निषेध के आग्रही थे; उन पर लिखे गये एक पत्र में श्रीमद् राजचन्द्रजी लिखते हैं कि 'अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक्-एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।'–इस एक वाक्य में श्रीमद् ने सर्वज्ञ के हृदय का मर्म भरा है; समस्त शास्त्रों का अन्तिम सार इसमें बतला दिया है। पात्र जीव हो, वह इसका रहस्य समझ जाता है। श्रीमद् के वचनों में ऐसा गूढ़भाव भरा हुआ है कि गुरुगम के बिना अपने आप उनका रहस्य समझ में आना कठिन है। अनेक जीव शास्त्र में कहे हुए व्यवहार–व्रत, तप, उपवासादि क्रियाओं में, और यह खपेगा, यह नहीं खपेगा–ऐसे बाह्य विधि-निषेध के आग्रह में लगे रहते हैं और उसी में सर्वस्व मान बैठते हैं। परन्तु उन व्रतादि में पर की ओर जानेवाली वृत्ति का भाव और देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का भाव–वह सब शुभराग है–विकार है; उसी में जा धर्म मानकर अटक गये हैं, उन्हें श्रीमद् इस एक वाक्य द्वारा कोड़े मारकर अन्तरोन्मुख करना चाहते हैं। इस एक वाक्य में कितना रहस्य भरा है, उसका माप बाहर से नहीं आता।

एक स्त्री धान कूट रही थी; उसमें चावल तो वजनदार होने से नीचे उतरते थे और फोतरे ऊपर दिखलायी देते थे। एक दूसरी स्त्री ने वह देखा। उसने अन्दर के चावल तो नहीं देखे और बाहर के अकेले फोतरे देखे; इसलिए 'यह स्त्री फोतरे कूटती मालूम होती है'–ऐसा मानकर स्वयं भी घर जाकर फोतरे कूटने लगी, लेकिन फोतरों में से चावल कहाँ से निकलें? उस स्त्री ने मात्र बाह्य अनकुरण किया। उसी प्रकार अज्ञानी जीव भी ज्ञानियों की गहरी अन्तदृष्टि को नहीं पहचानते और मात्र उनके शुभराग का और बाह्य क्रिया का अनुकरण करते हैं। ज्ञानियों को अन्तर में पुण्य-पाप की वृत्तियों पर दृष्टि नहीं होती, और जड़ शरीर की क्रिया मेरे कारण होती है–ऐसा वे नहीं

मानते; उनकी दृष्टि का बल अन्तर में निजपद पर होता है कि मैं अनादि-अनन्त ध्रुवस्वभावी ज्ञायकमूर्ति आत्मा हूँ–ऐसी अन्तर्दृष्टि को तो अज्ञानी जानते नहीं है और अवस्था में वर्तती पुण्य-पाप की वृत्तिओं को तथा देहादि की क्रिया को देखते हैं, और उन्हीं से धर्म होता होगा–ऐसा वे मानते हैं; इसलिए फोतरे कूटनेवाली स्त्री की भाँति वे भी फोतरों जैसे शुभराग में और देहादि की क्रिया में रुके रहते हैं। ज्ञानी तो अपने अन्तर में स्वभाव के ओर की उन्मुखता कर रहे हैं, स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रतारूपी भारीपन तो अन्तर में उतर रहा है अर्थात् आत्मा में अभेद हो रहे हैं; उसका फल बाह्य में दिखायी नहीं देता; अस्थिरता के कुछ राग के कारण पूजा-भक्ति-व्रतादि शुभराग और व्यापार-धन्धा आदि सम्बन्धी अशुभराग हो, उसे ज्ञानी फोतरों के समान मानते हैं तथ देह-मन-वाणी की क्रिया तो जड़ की है, उन दोनों से भिन्न अपने निजस्वभाव पर ज्ञानी की दृष्टि है। ऐसी दृष्टि के कारण धर्मी को प्रतिक्षण अन्तर में निजपद की ओर उन्मुखता है। बीच में पुण्य-पाप की वृत्ति उठने से निमित्तों पर लक्ष्य जाता है और देहादि की क्रिया उसके (जड़ के) कारण स्वयं होती है, उसी को अज्ञानी देखते हैं; परन्तु ज्ञानी को अन्तर की गहरी दृष्टि के कारण प्रतिक्षण धर्म होता है, उसे वे नहीं देखते।

बाह्य क्रियाकाण्ड में अटके हुए जीवों को अन्तरस्वभाव की दृष्टि की ओर उन्मुख करने के हेतु से श्रीमद् कहते हैं कि हे भाई! सर्वज्ञ भगवान ने जो अनेकान्त मार्ग कहा है, वह सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति के लिए ही उपकारी है। अनेकान्त अर्थात् क्या? वस्तु में नित्य–अनित्यादि दो-दो परस्पर विरुद्ध धर्म विद्यमान हैं, उसका नाम अनेकान्त है। आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, अवस्था से वर्तमान अशुद्ध है–इत्यादि प्रकार से दो-दो पक्ष जानकर एक स्वभाव की ओर उन्मुख होना ही प्रयोजन है, और उसका नाम सम्यक्-एकान्त है। आत्मा स्वभाव से शुद्ध और अवस्था से अशुद्ध–इसप्रकार दो-दो पक्ष जानकर उसके विकल्प में रुका रहे और शुद्ध स्वभाव की ओर उन्मुख न हो तो उसे निजपद की प्राप्ति नहीं होती, और उसने वास्तव में अनेकान्त को जाना नहीं कहलाता।

आत्मा ध्रुव नित्य स्वभाव में ज्ञाता-दृष्टा आनन्दस्वरूप है, और क्षणिक अनित्य पर्याय में पुण्य-पाप विकार है; इस प्रकार एक शुद्ध चैतन्यपक्ष और दूसरा अशुद्ध पक्ष–ऐसे दोनों पक्षों को जानना, वह अनेकान्त है। अनेकान्त, वह सर्वज्ञ भगवान का मार्ग है। सर्वज्ञ का मार्ग अर्थात् निजपद का मार्ग। त्रिकाली स्वभाव से शुद्ध और वर्तमान पर्याय से अशुद्ध–ऐसा अनेकान्त का ज्ञान अन्तर स्वभाव सन्मुख होकर निजपद की प्राप्ति करने के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु से उपकारी नहीं है। देखो! इसमें विचार करने योग्य गम्भीर रहस्य है। आत्मा त्रिकाली स्वभाव में शुद्ध

है और वर्तमान अवस्था में अशुद्ध है। क्षणिक अवस्था की अशुद्धता के समय यदि सम्पूर्ण आत्मा ही बिल्कुल अशुद्ध हो गया हो–स्वभाव से भी शुद्ध न रहा हो तो अशुद्धता दूर होकर शुद्धता आयेगी कहाँ से? प्राप्त की प्राप्ति होती है अर्थात् यदि शक्तिरूप से शुद्धता हो तो पर्याय में व्यक्त होती है; यदि किसी प्रकार शुद्धता ही न हो तो प्रगट नहीं होती। इसलिए शक्तिरूप से आत्मा का स्वभाव शुद्ध है, और प्रगट अवस्था में अशुद्धता न हो तो वर्तमान में शुद्धता होनी चाहिए और प्रगट परमानन्द का अनुभव होना चाहिए। इसलिए आत्मा एकान्त शुद्ध या अशुद्ध नहीं है, परन्तु द्रव्यस्वभाव से शुद्ध और पर्याय में अशुद्ध–ऐसा अनेकान्त है। आत्मसिद्धि में कहा है कि :–

''केवल होत असंग जो, भासत तने न केम?
असंग छे परमार्थ थी, पण निज भाने तेम।।''

आत्मा यदि सर्वथा पुण्य-पाप रहित तथा कर्म के निमित्त रहित असंग होता तो तुझे उसके आनन्द का व्यक्त अनुभव हुए बिना नहीं रहता। पर-निमित्त के संग से आत्मा की अवस्था में यदि बिल्कुल विकार नहीं होता तो तो असंग चैतन्य के परम आनन्द का अनुभव प्रवर्तमान होता; इसलिए अवस्था में विकार और निमित्त के संग है; तथापि ''असंग छे परमार्थथी.'' अन्तरस्वभाव की दृष्टि से देखने पर सम्यक् चिदानन्द प्रभु असंग है। यदि परमार्थ से असंग न हो, तो कभी असंग नहीं हो सकता और यदि व्यवहार से भी असंग होता तो पूर्णानन्द का अनुभव व्यक्त होता। जो पुण्य-पाप, क्रोधादि की वृत्तियाँ होती हैं, वे कहीं जड़ के नहीं होतीं परन्तु चैतन्य की अवस्था में स्वयं ही करता है। यदि चैतन्य शुद्ध ही हो तो भूल किसकी? और संसार किसका? यदि चेतन की अवस्था में भूल न हो तो यह समझने का उपदेश किसे? आत्मा शक्तिरूप से त्रिकाल शुद्ध परिपूर्ण होने पर भी वर्तमान अवस्था में मलिन हो रहा है; यदि वह मलिनता नहीं होती तो इस समय परमात्मा होता और अशुद्धता ही उसका स्वरूप होता तो वह कभी दूर नहीं हो पाती। परमार्थ से आत्मा असंग-शुद्ध है, और निजभान से वह शुद्धता पर्याय में प्रगट होती है।

–इस प्रकार वर्तमान दृष्टि से आत्मा संगवाला–मलिन है और वस्तु स्वभाव से शुद्ध है–ऐसा अनेकान्त है; परन्तु वे दोनों पक्ष जानकर एकत्व प्रगट किये बिना अनेकान्त का यथार्थ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, अर्थात् ''स्वभाव से शुद्ध अवस्था से अशुद्ध''–ऐसे दो पक्ष जानकर उनके सामने ही देखता रहे और शुद्ध स्वभाव की ओर उन्मुख न हो तो निजपद की प्राप्ति नहीं होती और अशुद्धता दूर नहीं होती; परन्तु 'त्रिकाल स्वभाव से मैं शुद्ध हूँ, और क्षणिक पर्याय में अशुद्धता है'–इस प्रकार दोनों पक्ष जानकर, यदि त्रिकाली शुद्ध स्वभाव की ओर उन्मुख हो तो निजपद की प्राप्ति होती है और अशुद्धता दूर होती है।

यहाँ जिस प्रकार शुद्ध और अशुद्ध–इन दो बोलों में अनेकान्त समझाया है, उसी प्रकार उपादान –निमित्त, निश्चय-व्यवहार आदि सभी बोलों में समझना। उपादान है और निमित्त भी है– इस प्रकार दोनों को जाने अवश्य, लेकिन उसमें उपादान से वस्तु का कार्य होता है और निमित्त कुछ नहीं करता है–ऐसा समझकर, यदि उपादान की ओर उन्मुख हो तो अनेकान्त कहलाता है। अनादि का अज्ञानी जीव सच्चा आत्मभान अपनी योग्यता से जब प्रगट करे, तब उसे आत्मज्ञानी सद्गुरु ही निमित्तरूप अवश्य होते हैं। सच्चा निमित्त न हो–ऐसा नहीं हो सकता, और निमित्त कुछ कर दे–ऐसा भी नहीं होता। श्रीमद् कहते हैं कि –

बुझी चहत जो प्यास को, है बुझन की रीत,
पावे नहि गुरुगम बिना, अेही अनादि स्थित।
पाया की ये बात है, निज छन्दन को छोड,
पीछे लाग सत्पुरुष को, तो सब बन्धन तोड़।।

हे भाई ! यदि तू आत्मस्वभाव का भान करना चाहता हो और अनादि का अज्ञान दूर करना हो तो उसकी रीति है; परन्तु गुरुगम के बिना वह रीति हाथ नहीं आ सकती–ऐसी अनादि वस्तु स्थिति है। चैतन्यस्वभाव कौन है, वह गुरुगम के बिना समझ में नहीं आता। जीव जब सम्यक्ज्ञान प्राप्त करता है, तब वह अपनी योग्यता से ही प्राप्त करता है, किन्तु उस योग्यता के समय निमित्तरूप से गुरुगम न हो, ऐसा नहीं हो सकता;–ऐसा अनेकान्त है। निमित्त कुछ करता नहीं है और अज्ञानी निमित्त होता नहीं है। जिस प्रकार चार मन चावल लेने जाये तो ढ़ाई सेर का बोरा साथ में होता है, लेकिन चार मन चावलों के साथ ढाई सेर के बोरे को पकाया नहीं जाता; और बारदान के रूप में बोरा न हो–ऐसा भी नहीं होता। उसी प्रकार चैतन्य-स्वभाव को जानने में ज्ञानी निमित्तरूप से होते हैं, वह बारदान है–बाह्य वस्तु है; वह निमित्त कहीं समझा नहीं देता। ज्ञानी के अतिरिक्त अज्ञानी निमित्त नहीं होता और आत्मा के आनन्द के अनुभव में निमित्त कुछ करता नहीं है। जिस प्रकार ऊँचे दरजे की केसर लेने जाये, वहाँ बारदान के रूप में सन का बोरा नहीं होता, किन्तु अच्छी काँचकी बरणी या डिब्बी होती है। उसी प्रकार अपूर्व सत्य स्वभाव की समझ प्रगट करने में निमित्तरूप से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र होते हैं, अज्ञानी नहीं होते।

– इस प्रकार, उपादान है और निमित्त भी है–ऐसे दोनों को जानता, वह अनेकान्त है; परन्तु वह अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक्-एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु से उपकारी नहीं है; अर्थात् उपादान और निमित्त दोनों को जानकर, एक उपादान-स्वभाव-सन्मुख होना, वह प्रयोजन है। उपादान है और निमित्त है–ऐसा जानकर यदि उसी के

लक्ष्य में रुके और निमित्त का लक्ष्य छोड़कर अपने उपादान की दृष्टि प्रगट न करे तो निजपद की प्राप्ति नहीं होती। अपने स्वभाव के ओर की एकता प्रगट किये बिना अनेकान्त का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता।

(१) त्रिकाली द्रव्य शुद्ध और क्षणिक अवस्था में अशुद्धता–इन दोनों पक्षों को जानकर, शुद्ध स्वभाव की ओर उन्मुख होना, वह अनेकान्त है। शुद्धस्वभाव की ओर उन्मुख हुए बिना अशुद्धता का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

(२) स्वयं अपनी पात्रता प्रगट करके अन्तरोमुख हो तो आत्मा समझ में आये, और उस समय सद्गुरु निमित्त हो, परन्तु निमित्त कुछ करता नहीं है;–इस प्रकार उपादान-निमित्त को जानकर, निमित्त का लक्ष्य छोड़कर, उपादान की ओर उन्मुख होना प्रयोजन है। उपादान की ओर उन्मुख हुए बिना निमित्त का यथार्थ ज्ञान प्रगट नहीं होता।

इस प्रकार दो बोल हुए। अब तीसरा बोल निश्चय और व्यवहार के सम्बन्ध में कहा जाता है।

(३) अखण्ड चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होने के पूर्व–'सच्चे-देव-गुरु-शास्त्र क्या कहते हैं'–ऐसा परसन्मुख शुभराग होता है, परन्तु उस शुभराग की वृत्ति की ओर से लक्ष्य छूटकर अखण्ड ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख हुए बिना निश्चय–व्यवहार दोनों का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। स्वभाव की ओर ढ़लने से राग का आश्रय टूटे, तब अनेकान्त होता है। अखण्ड ज्ञानस्वभाव, वह निश्चय और शुभराग, वह व्यवहार। निश्चय ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होने से स्व-पर प्रकाशकज्ञान-सामर्थ्य विकसित हुआ, वह ज्ञान शुभराग को व्यवहार के रूप में जान लेता है।

(१) समझने के समय पर्याय में अशुद्धता हो, तथापि स्वभाव शुद्ध है, उस शुद्ध स्वभाव का आश्रय करे तो आत्मा समझ में आये।

(२) उपादान की समझने की तैयारी के समय निमित्त होता है, परन्तु समझनेवाला स्वयं है,–ऐसा जानकर, निमित्त का लक्ष्य छोड़कर, उपादान की ओर उन्मुख हो तो यथार्थ समझ में आता है।

(३) सत् समझने की पात्रता के समय शुभरागरूप व्यवहार होता है; परन्तु उस व्यवहार के आश्रय से कल्याण नहीं है। उस व्यवहार का आश्रय छोड़कर परमार्थस्वभाव का आश्रय करे तो सत् समझ में आये।

– इस प्रकार दो-दो पक्ष जानकर एक स्वभाव की ओर उन्मुख हो, तब अनेकान्त होता है; दोनों को पकड़ रखे तो अनेकान्त नहीं होता। अज्ञानी अनेकान्त के नाम से झगड़ते हैं; परन्तु

यहाँ 'सम्यक्-एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु से अनेकान्त मार्ग उपकारी नहीं है'–ऐसा कहकर उस सारे झगड़े क निपटारा कर दिया है।

(१) जीव समझे, तब अशुद्धता होने पर भी, उसके आश्रय से कल्याण नहीं होता, परन्तु शुद्ध स्वभाव के आश्रय से ही कल्याण होता है।

(२) जीव समझे, तब निमित्त होने पर भी, उस के आश्रय से कल्याण नहीं होता, परन्तु उपादान-स्वभाव के आश्रय ही कल्याण होता है।

(३) जीव समझे, तब शुभ-राग-व्यवहार होने पर भी, उसके आश्रय से कल्याण नहीं होता, परन्तु रागरहित निश्चय स्वभाव के आश्रय से ही कल्याण होता है।

सर्वज्ञ भगवान ने केवलज्ञान द्वारा जगत के पदार्थों को जैसे हैं, वैसा जानकर, वस्तु के अनेक धर्मों का वर्णन किया है।

(१) त्रिकाली शुद्ध और वर्तमान अशुद्धता,

(२) उपादान अपनी शक्ति से समझे और उस समय पर निमित्त हो, परन्तु निमित्त कुछ करता नहीं है।

(३) समझने के समय सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि शुभ-रागरूप व्यवहार हो, परन्तु धर्म तो निश्चय स्वभाव के आश्रय से ही होता है।

–इस प्रकार दो-दो पक्ष होने पर भी, अशुद्धता-निमित्त या राग मैं नहीं हूँ, शुद्ध-उपादान-निश्चय-स्वभाव वह मैं हूँ–ऐसी श्रद्धा करके स्वाश्रयभाव प्रगट करना, वह धर्म है। अनेकान्तिक मार्ग होने पर भी सम्यक्-एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति के लिए ही वह उपकारी है। दो-दो बोल होने पर भी उन्हें जानकर एक शुद्ध-निश्चय की ओर उन्मुख होना, उसका नाम सम्यक्-एकान्त है।

शुद्धता और अशुद्धता दोनों होने पर भी यदि शुद्ध स्वभाव पर दृष्टि न करे तो अशुद्धता को जानेगा कौन? उपादान और निमित्त दोनों होने पर भी, उपादान की ओर उन्मुख हुए बिना निमित्त का यथार्थ ज्ञान कौन करेगा? शुद्ध स्वभाव और राग, अथवा निश्चय और व्यवहार दोनों होने पर भी, निश्चय-स्वभाव पर दृष्टि किये बिना व्यवहार को व्यवहार कौन कहेगा? निर्मल स्वभाव के ओर की उन्मुखता बिना स्व-पर को जानने का विवेक प्रगट नहीं होगा। अभेद स्वभाव की ओर ढ़लना ही अनेकान्त का प्रयोजन है। अभेद स्वभाव की ओर ढ़लना कहो अथवा तो सम्यक्-एकान्त कहो–उसमें मोक्षमार्ग आ जाता है।

यहाँ ''सम्यक् एकान्त'' कहकर निमित्त, राग और व्यवहार को उड़ा दिया है अर्थात् वह होने पर भी उसके आश्रय से कल्याण नहीं है, परन्तु निज स्वभाव के आश्रय से ही कल्याण है–

ऐसा समझाया है। दया, दान या व्रतादि शुभराग, वह दुःख है—आकुलता है, और हिंसा, विषय-कषायादि अशुभ वृत्तियाँ तीव्र दुःख है—आकुलता है। वे शुभ-अशुभ वृत्तियाँ आत्मा की ही अवस्था में होती है, परन्तु वह त्रिकाली स्वरूप नहीं है। अवस्था में पुण्य-पाप और अज्ञान है, उसकी यदि ना कहे तो समझने का प्रयत्न करना न रहे, और त्रिकाली स्वभाव में वह पुण्य-पाप या अज्ञान नहीं है—ऐसा यदि न समझे तो त्रिकाली स्वभाव के आश्रय बिना पुण्य-पापादि दूर नहीं होंगे। व्यवहार, निमित्त और राग है, उसकी ज्ञानी ना नहीं कहते, परन्तु उसके द्वारा धर्म होगा या करते-करते धर्म होगा—ऐसा मानने की ना कहते हैं।

जीवों ने यह बात कभी रुचिपूर्वक सुनी नहीं है। संसार में परिभ्रमण करते-करते जीव ने अनन्त बार मनुष्यभव किये और सत् सुनानेवाले ज्ञानी अनन्त बार मिले, साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा की सभा में जाकर दिव्यध्वनि सुनी, परन्तु अन्तर में निजपद को प्राप्त करने की योग्यता स्वयं प्रगट नहीं की। निजपद को भूलकर परपद में ही रुक गया है। या तो आत्मा को एकान्त शुद्ध ही माना, या फिर सर्वथा अशुद्ध मान लिया; या निमित्त से कल्याण होगा ऐसा माना, या व्यवहार के आश्रय से लाभ मानकर राग में ही रुका रहा, परन्तु राग और निमित्त से रहित निज स्वभाव की ओर कभी उन्मुख नहीं हुआ। स्वभावोन्मुख निश्चय है और परोन्मुख व्यवहार है। वस्तु का स्वभाव, वह उपादान है और पर संयोग, वह निमित्त है।

(१) अवस्था में अशुद्धता होने पर भी आत्मा स्वभाव से शुद्ध है।

(२) पर निमित्त होने पर भी आत्मा स्वसंवेद्य है।

(३) राग-व्यवहार होने पर भी निश्चय के अवलम्बन से धर्म है; इसलिए हे भाई! तू शुद्ध स्वभावसन्मुख होकर उसका ज्ञान कर तो तेरा ज्ञान, अशुद्धता को यथार्थ जान लेगा। स्व-उपादान की दृष्टि कर तो पर निमित्त को देखने की आँख खुलेगी। स्वभावसन्मुख होकर निश्चय प्रगट कर तो विभाव—व्यवहार को—जानने की शक्ति विकसित होगी। अथवा द्रव्य और पर्याय—ऐसे दो बोल हैं; द्रव्यदृष्टि प्रगट कर तो पर्याय का यथार्थ ज्ञान हो।

इस प्रकार शुद्ध और अशुद्ध, उपादान और निमित्त, निश्चय और व्यवहार तथा द्रव्य और पर्याय—ऐसे आठ बोल हुए; यह आठों बोल जानने योग्य हैं, परन्तु उन्हें जानकर एक स्वभाव की ओर उन्मुख हुए बिना अनेकान्त का सच्चा ज्ञान नहीं होता। शुद्ध स्वभाव कहो, उपादान कहो, निश्चय कहो या द्रव्य कहो—उस ओर उन्मुख हुए बिना अशुद्धता का—निमित्त का, व्यवहार का या पर्याय का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अनेकान्त का फल सम्यक्-एकान्त है अर्थात् सम्यक्-एकान्त के बिना यथार्थ अनेकान्त नहीं होता। 'मूलमार्ग' काव्य में श्रीमद् कहते हैं कि –

छे देहादि थी, भिन्न आत्मा रे, उपयोगी सदा अविनाश.....।
अेम जाणे सद्गुरु उपदेशथी रे, कह्युं ज्ञान तेनुं नाम खास.....मूल०

अन्तर स्वभावोन्मुख होकर ज्ञाता आनन्दकन्द त्रिकाल उपयोगस्वरूप अविनाशी आत्मा का ज्ञान करे, उसी को यहाँ सम्यग्ज्ञान कहा है। पर्याय और निमित्त आदि को ही जानने में रुका रहे परन्तु स्वसन्मुख होकर स्वभाव को न जाने तो सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

पुनःश्च सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में कहते हैं कि –

जे ज्ञाने करीने जाणीयुं रे, तेनी वर्ते छे शुद्धप्रतीति,
कह्युं भगवन्ते दर्शन तेहने रे, जेनुं बीजुं नाम समकित॥ मूल०

इन्द्रियों से या राग से जानने की बात नहीं की, परन्तु ज्ञान से जानने की बात की है। इन्द्रियों और राग के अवलम्बन के बिना अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जिस आत्मस्वभाव को जाना उसकी शुद्ध प्रतीति वर्त्तती है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। पहले निमित्तरूप से ज्ञानी का उपदेश होता अवश्य है, परन्तु उस उपदेश द्वारा आत्मा ज्ञात होता है–ऐसा नहीं है। ज्ञानी का उपदेश सुनकर, फिर स्व-सन्मुख अतीन्द्रियज्ञान द्वारा स्वयं ऐसा समझा कि अहो! मैं आत्मा अखण्ड उपयोगी अविनाशी हूँ। निमित्त से नहीं जाना है, राग से नहीं जाना है, व्यवहार या भेद से नहीं जाना है, परन्तु स्वभावोन्मुख होते हुए ज्ञान से जाना है। देखो, श्रीमद् राजचन्द्र के इस काव्य में कितना रहस्य भरा है। अज्ञानी रेकार्ड की भाँति मात्र शब्द बोल जाते हैं परन्तु अन्दर जो आशय भरा है, उसे नहीं समझते। जिस प्रकार रेकार्ड बोलता है, लेकिन उसके हृदय नहीं है; उसी प्रकार अज्ञानी भाषा को गोख कर रेकार्ड की भाँति बोल जाते हैं, परन्तु भीतर के भाव की समझ नहीं है। पहले अज्ञानरूप से अन्य प्रकार से जानना मानता था, शास्त्र से, इन्द्रियों से या राग से जानना मानता था। इससे यहाँ कहा है कि–'ज्ञाने करीने जाणीयुं रे....' क्या जाना? मैं शुद्ध उपयोगस्वरूप अविनाशी आत्मा हूँ–ऐसा जाना; और ऐसा जाना इसलिए, 'मैं रागी हूँ, मैं परनिमित्त से समझता हूँ,'–ऐसी जो मिथ्यामान्यता थी, वह दूर हो गई। और अवस्था में रागादि होने पर भी उतना ही अपने को न मानकर–'मैं शुद्ध उपयोगमय शाश्वत हूँ'–ऐसा स्वीकार करके अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ, इससे दोनों पक्षों का ज्ञान होकर सम्यक्-एकान्त हुआ। राग और ज्ञानस्वभाव दोनों को जाना अवश्य; लेकिन राग है, वह मैं नहीं हूँ, और जो ज्ञान है, वही मैं हूँ–इस प्रकार ज्ञान की ओर उन्मुख होने से सम्यक्-एकान्त हुआ।

निचलीदशा में राग बिल्कुल दूर नहीं हो जाता; रागादि भाव होते अवश्य हैं; परन्तु वे रागादि होने पर भी उनसे आत्मा को नहीं जानता, किन्तु ज्ञान से ही जाना है। राग से पृथक् होकर

ज्ञान को अपने स्वभाव में एकमेक किया, वह सम्यक्-एकान्त है, वह मोक्षमार्ग है, वह धर्म है। अवस्था में राग है, राग के निमित्त हैं, व्यवहार है, परन्तु उन सबको जानकर, शुद्ध अभेदस्वभाव की ओर उन्मुख होना ही प्रयोजन है। यहाँ शुद्ध-अशुद्ध, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार और द्रव्य-पर्याय–ऐसे चार प्रकार से दो-दो बोल समझाकर आत्मा को स्वभाव की एकता की ओर उन्मुख किया है।

यहाँ कोई कहे कि, यह सब प्रकार जानकर फिर क्या करना चाहिए? तो उसे ऐसा समझाया है कि यह सब जानकर सम्यक्-एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति करने के लिए –

(१) अशुद्धत का आश्रय छोड़कर शुद्ध आत्मा का आश्रय करना चाहिए।

(२) निमित्त का आश्रय छोड़कर उपादान का आश्रय करना चाहिए।

(३) व्यवहार का आश्रय छोड़कर निश्चय का आश्रय करना चाहिए।

(४) पर्याय का आश्रय छोड़कर द्रव्य का आश्रय करना चाहिए।

बीच में राग-निमित्त या व्यवहार भले हो, परन्तु धर्मी की उन्मुखता तो प्रारम्भ से ही सम्यक्-एकान्त–ऐसे शुद्धपद की प्राप्ति पर ही है। साधकदशा के प्रारम्भ से लेकर पूर्ण परमात्मपद की प्राप्ति होने तक ऐसी ही उन्मुखता होती है। बीच में रागादि व्यवहार और भंग-भेद आयें, वे जानने के लिए हैं; परन्तु उनमें रुचि करके रुकने के लिए वे नहीं हैं। इस प्रकार नित्य-अनित्य, एक-अनेक, अभेद-भेद इत्यादि समस्त बोलों में समझ लेना चाहिए। पूर्ण परमात्मपद प्रगट हो जाने के पश्चात् एक ओर ढ़लना नहीं रहता, और उन्हें नय भी नहीं होता।

वस्तु अनन्त गुणों का पिण्ड है। वह वस्तु तो है, है और है–त्रिकाल है। वह वस्तु कहीं नवीन प्राप्त नहीं होती; परन्तु उसका भान होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा पूर्ण परमात्मपद प्रगट हो, उसका नाम निजपद की प्राप्ति है। 'मूलमार्ग' में कहते हैं कि–

ते त्रणे अभेद परिणामथी रे, ज्यारे वर्ते ते आत्मारूप...
तेह मारग जिननो पामियो रे, किंवा पाम्यो ते निजस्वरूप....मूल०

जब सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र–यह तीनों अभेद परिणाम से आत्मारूप वर्ते, उस समय उस जीव ने जिन का मार्ग प्राप्त किया अर्थात् निजस्वरूप को प्राप्त किया। जिन का मार्ग कहो अथवा निजस्वरूप कहो–वे कहीं भिन्न नहीं हैं। लोग बाह्य में जिन का मार्ग मान बैठे हैं, परन्तु जिन का मार्ग बाह्य में नहीं है, अपना आत्मस्वरूप ही जिन का मार्ग है।

१– अवस्था में अशुद्धता होने पर भी शुद्ध स्वभाव पर दृष्टि

२– पर निमित्त का लक्ष होने पर भी स्वद्रव्य आश्रय।

३– व्यवहार होने पर भी, निश्चय का अवलम्बन,

४– क्षणिक पर्याय के भेद होने पर भी अभेद द्रव्य पर दृष्टि, अथवा पर्यायों की अनेकता होने पर भी स्वभाव की एकता का आश्रय,–ऐसा सम्यक्-एकान्त है, और इसे प्राप्त कराना ही अनेकान्त का प्रयोजन है। निश्चय के अवलम्बन से धर्म होता है और व्यवहार के अवलम्बन से भी धर्म होता है–इसका नाम अनेकान्त नहीं है, यह तो मिथ्या एकान्त है। निश्चय के आश्रय से धर्म होता है और व्यवहार के आश्रय से धर्म नहीं होता–ऐसा अनेकान्त है; और उसे जानकर निश्चय की ओर ढ़लने का नाम सम्यक् एकान्त है। मोक्षमार्ग में बीच में कहीं व्यवहार का अवलम्बन है ही नहीं। बीच में व्यवहार होने पर भी, उसके अवलम्बन से धर्म नहीं टिकता; मोक्षमार्ग तो निश्चय के अवलम्बन से ही टिका है।

भाई ! शास्त्रों में निश्चय के और व्यवहार के, उपादान के और निमित्त के, द्रव्य के और पर्याय के, अभेद के और भेद के तथा शुद्ध के और अशुद्ध के कथन भले हों, परन्तु सम्यक्-एकान्त–ऐसे निजपद की प्राप्ति ही सबका सार है। यह सब जानकर यदि स्वभावोन्मुख न हो तो जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता और कल्याण नहीं होता। यदि स्वभाव की रुचि न करे और भेद की–व्यवहार की-निमित्त की या पर्याय की रुचि करे तो मिथ्या-एकान्त हो जाता है। शास्त्र के लक्ष्य से अनेक पक्ष जानकर, यदि स्वभाव की ओर उन्मुख न हो तो जीव को क्या लाभ?

मैं ज्ञाता दृष्टा त्रिकाल हूँ, पूर्णानन्द प्रगट करने की शक्ति मुझमें भरी है,–ज्ञान-दर्शन की वीतरागी क्रिया का ही मैं कर्त्ता हूँ, जड़ की क्रिया का मैं कर्त्ता नहीं हूँ और पुण्य-पाप भी मेरी स्वाभाविक क्रिया नहीं है। कोई पर मुझे परिभ्रमण नहीं कराता और कोई पर मुझे समझाने की शक्तिवाला नहीं है। मैं अपनी भूल से भटका हूँ और अपने पुरुषार्थ से यथार्थ समझ करके शक्ति प्राप्त करता हूँ। अनन्त सर्वज्ञ–सन्त पहले हो गये हैं, परन्तु मैं अपनी पात्रता के अभाव से नहीं समझा। अपने निजपद की प्राप्ति स्व-सन्मुख पुरुषार्थ से होती है। वर्तमान में मैं अपने पूर्णानन्दमय स्वपद की प्राप्ति करना चाहता हूँ, तो वैसे पूर्णानन्द प्रगट करनेवाले अनन्त जीव पहले हो चुके हैं, इस समय विचर रहे हैं और भविष्य में भी अनन्त होंगे। सर्वज्ञता के बिना पूर्णानन्द नहीं होता। सर्वज्ञता प्रगट करके पूर्णानन्द प्राप्त करनेवाले जीव सम्यक्-एकान्त–ऐसे निजपद का आश्रय लेकर ही उसे प्राप्त हुए हैं–प्राप्त होते हैं और प्राप्त होंगे। इसके अतिरिक्त राग-निमित्त या व्यवहार–यह सब पर पद हैं, उनके आश्रय से कोई उस पूर्णानन्द को प्राप्त हुए नहीं हैं–प्राप्त होते नहीं है और न प्राप्त होंगे। तीनों काल में यह एक ही भव के अन्त का और मुक्ति की प्राप्ति का उपाय है। श्रीमद् के वचनों में जहाँ देखो, वहाँ भव के अन्त की घोषणा है। वे लिखते हैं कि –

'कायानी बिसारी माया, स्वरूपे समाया अेवा।
– निर्ग्रन्थ नो पंथ भव अंतनो उपाय छे।'

स्व-सन्मुख होकर स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करके उसमें लीनता करना ही भव के अन्त का उपाय है। भव के अन्त का पंथ कहाँ से प्रारम्भ होता है?–क्या भव के कारण का आश्रय लेने से भव के अन्त का प्रारम्भ होता है?–या भवरहित स्वरूप का आश्रय लेने से भव के अन्त का प्रारम्भ होता है? धर्म के लिए आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त पर का आश्रय स्वीकार करना, वह बन्ध का पंथ है; और शुद्ध स्वभाव का आश्रय स्वीकार करना वह मोक्ष का पंथ है।

आत्मसिद्धि में कहा है कि –

'जे जे कारण बन्धना, तेह बन्धनो पंथ,
ते कारण छेदक दशा, मोक्षपंथ भवअन्त।'

शुभाशुभभाव की रुचि और पर्यायबुद्धि–वह बन्धन का अर्थात् संसार का पंथ है, और उसका छेदन, वह भव के अन्त का अर्थात् मोक्ष का पंथ है। परन्तु उसका छेदन किस प्रकार हो? 'इन शुभाशुभ का छेदन करूँ'–इस प्रकार उसके सामने देखते रहने से (पर्यायबुद्धि से) उनका छेदन नहीं होता, परन्तु आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वभाव की रुचि करके, उसमें एकाग्र होने से पर्यायबुद्धि का और राग का छेदन हो जाता है–अर्थात् उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती। इससे शुद्ध चैतन्यस्वभाव की रुचि करके उसमें एकाग्रता करना ही मोक्ष का और भव के अन्त का पंथ है।

शास्त्रों में निश्चय और व्यवहार दोनों का बात है; परन्तु आश्रय तो एक निश्चय का ही बतलाया है। ज्ञान करने के लिए परवस्तु है अवश्य, परन्तु कल्याण तो स्व के आश्रय से ही होता है, अभेद के आश्रय से ही होता है। अभेद के आश्रय से–निश्चय के आश्रय से–द्रव्य सामान्य के आश्रय से–अथवा तो शुद्ध उपादान के आश्रय से कल्याण है; इसके अतिरिक्त भेद के आश्रय से–व्यवहार के आश्रय से–पर्याय के आश्रय से या निमित्त के आश्रय से कल्याण नहीं है। शास्त्रों में निश्चय-व्यवहार आदि दो-दो पक्षों का ज्ञान कराया है, परन्तु उन दो पक्षों को जानकर एक ओर उन्मुख होने के लिए यह उपदेश है।

बाह्य संयोग और निमित्त हो भले, परन्तु वह आत्मा के धर्म का साधन नहीं है। अरे प्रभु! तू चैतन्य भगवान ऐसा पुरुषत्वहीन नहीं है कि तुझे पर संयोग की अनुकूलता से लाभ हो। अपने कल्याण के लिए तुझे पर की आवश्यकता हो।–ऐसा तेरा स्वरूप नहीं है। निमित्त भले हो परन्तु वह तेरे आत्मा से पर है; और निमित्त के लक्ष्य से व्यवहार-शुभराग हो, वह भी तेरे स्वभाव से पर है–इस प्रकार जानकर स्वभावोन्मुख होना ही परमात्मपद का उपाय है। इस प्रकार सम्यक्-एकान्त

ऐसे निजपद की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य हेतु से अनेकान्त उपकारी नहीं है। पर्याय में अशुद्धता है अवश्य, परन्तु उसके आश्रय से निजपद की प्राप्ति नहीं होती। स्वभावोन्मुख हुए बिना, पर्याय के आश्रय से कल्याण हो–ऐसा अनेकान्त मार्ग में अर्थात् वस्तु के स्वभाव में है ही नहीं। तू अपने को समझकर अपने स्वभाव की महिमा कर और अपने स्वभाव की ओर ढ़ल–यही कल्याण का मार्ग है। निजपद की अर्थात् परमात्मदशा की प्राप्ति स्व के आश्रय से होती है, पराश्रय से निजपद की प्राप्ति रुकती है। उपादान के आश्रय से निजपद की प्राप्ति होती है, निमित्त के आश्रय से निजपद की प्राप्ति रुकती है।

निजपद की प्राप्ति जीव से हो सकती है, उसका यह उपदेश है। अनन्तकाल से जीव ने अपने निजपद की सम्भाल नहीं की है, और निमित्त तथा व्यवहार के आश्रय से कल्याण मानकर परपद की ही प्राप्ति की है। स्वपद-चैतन्यस्वभाव को भूलकर पर के आश्रय से परपद की, राग की-कर्म की और शरीर के संयोग की प्राप्ति होती है और चार गति के अवतार दूर नहीं होते। राजपद हो या देवपद हो–वे सब परपद हैं, और उनके कारणरूप पुण्यभाव भी परपद है, चैतन्य भगवान आत्मा का वह पद नहीं है। निजपद तो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, उसके आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करने से परमात्मपद की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त पराश्रय से राग उत्पन्न हो, उससे परपद की प्राप्ति होती है। अनेकान्त अपने स्वभाव पद की प्राप्ति के अर्थ से ही उपकारी है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी का जीवन आन्तरिक था। उन्हें संयमदशा नहीं थी, परन्तु अन्तरस्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई थी, स्वभाव प्राप्ति के लिए प्रयत्न वर्तता था। अन्तर से भगवान आत्मा जागृत हुआ था। अन्त में उनकी पुकार है कि –

'बहुत ही जल्दी प्रवास पूरा करना था'–इस संसार का अन्त लाकर निजपद की पूर्णता की शीघ्र प्राप्ति करनी थी; पूर्णता की ही भावना थी। आत्मा में केवलज्ञान की अनन्त पर्यायें सादि-अनन्तकाल तक प्रगट होती रहें–वैसी शक्ति भरी है;–ऐसा परिपूर्ण आत्मा दृष्टि में तो आया है–प्रतीति में आया है, स्वभाव की निःशङ्कता प्रगट हुई है और इस स्वभाव के आश्रय से अल्पकाल में संसार का अन्त करके मोक्षदशा प्रगट करने की भावना थी–बहुत ही जल्दी प्रवास पूरा करना था, वहाँ बीच में सहरा का रेगिस्तान संप्राप्त हुआ। सिर पर भारी बोझा था, उसको आत्मवीर्य द्वारा जिस प्रकार अल्पकाल में वेदन किया जा सके, वैसी प्रघटना करते पर पाँवों ने निकाचित उदयमान थकावट ग्रहण की। यहाँ पर्याय की निर्बलता का ज्ञान भी वर्तता है, उस की बात की; उस में भी आत्मवीर्य की बात ली है; परन्तु कर्म बाधक होंगे–ऐसी बात नहीं ली है। अन्तर में सम्यक्-एकान्त ऐसे निजपद पर दृष्टि पड़ी है, और स्वभाव की ओर पुरुषार्थ का वेग ढ़ला है, परन्तु

स्वभाव में ढ़लते-ढ़लते बीच में वीर्य अटक गया, पूर्णता के पुरुषार्थ में नहीं पहुँचा जा सका, इससे एकाध भव हुआ;–उसका ज्ञान वर्तता है, तथापि स्वभाव की निःशंकता घोषित करते हुए कहते हैं कि –

'जो स्वरूप है, वह अन्यथा नहीं होता; यही अद्‌भुत आश्चर्य है, अव्याबाध स्थिरता है।' अवस्था में अशक्ति से किंचित् वीर्य रुका हुआ है, उसका भान है, परन्तु दृष्टि में जो स्वरूप आया है, वह अन्यथा नहीं होना है; इस स्वरूप की दृष्टि कभी हटना नहीं है। इसलिए इस दृष्टि के बल से स्वरूपस्थिरता प्रगट करनेवाले है। ''स्वात्मवृत्तांत'' में निःशंकतापूर्वक कहते हैं कि–

अवश्य कर्मनो भोज छे भोगववो अवशेष रे,
तेथी देह अेक ज धारिने, जाशुं स्वरूप स्वदेश रे.. धन्य रे..

अब अनन्त भव धारण करना नहीं रहे हैं, परन्तु एक ही भव शेष है। एक भव में हमें पूर्ण-स्वरूप की प्राप्ति होगी, उसमें तीनकाल, तीनलोक में शंका नहीं पड़ती। 'अपूर्व अवसर' के अन्तिम पद में भी इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि –

अेह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में,
गजाबगर ने हाल मनोरथरूप जो;
तो पण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो,
प्रभु आज्ञाअे थाशुं ते जे स्वरूप जो...

अन्तर में ऐसे परमात्मपद की श्रद्धा और ज्ञान प्रगट हुए हैं, और उसकी पूर्ण प्राप्ति के लिए भावना वर्तती है। 'ऐसी जिसकी दशा हो, वह एकावतारी होता है'–ऐसी भगवान की आज्ञा का भान है; और साथ ही अपना निश्चय मिलाकर कहते हैं कि अल्पकाल में हम अवश्य ही उस परमपद स्वरूप हो जायेंगे। अन्तरस्वभाव की दृष्टिपूर्वक ऐसे स्वकाल के अपूर्व पुरुषार्थ की भावना करते-करते जिसका शरीर छूटा, उसे फिर विशेष भव नहीं होते।

युक्ति

जो युक्ति आत्मस्वभाव को सिद्ध करे, वही युक्ति है। प्रथम, वस्तु है–ऐसा निश्चित् करना चाहे तो उसे युक्ति द्वारा सिद्ध कर सकता है। जो स्वभाव हो, उसे सिद्ध करना, सो युक्ति है; किन्तु जो स्वभाव को ही न समझना चाहे, उसे युक्ति यथार्थ नहीं बैठेगी।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें)

ज्ञानी को क्या सन्मत है?

''ज्ञानियों का सन्मत किया हुआ सर्व संमत करना चाहिए!''
''आत्मस्वभाव में अभेद दृष्टि ही ज्ञानियों का सन्मत है?!''

यह श्रीमद् राजचन्द्रजी का एक पत्र पढ़ा जा रहा है। इसमें वे लिखते हैं कि–ज्ञानियों का सन्मत किया हुआ सर्व सन्मत करना चाहिए। ज्ञानियों को क्या सन्मत है? आत्मस्वभाव में अभेद दृष्टि ही सर्व ज्ञानियों को सन्मत है। इसके अतिरिक्त राग से धर्म होता है अथवा शरीर की क्रिया आत्मा करता है–यह बात किसी भी ज्ञानी को सन्मत नहीं है।

'अनन्तकाल से अपने को अपने सम्बन्ध की ही भ्राँति रह गई है।' तेईस वर्ष की उम्र में श्रीमद् ने यह लिखा है। आत्मा अनन्तकाल से है, यह शरीर नवीन उत्पन्न होता है, परन्तु आत्मा नवीन नहीं होता। आत्मा स्वयं कौन है–उसकी उसे अनन्तकाल से खबर नहीं है। मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है?–उस सम्बन्ध में ही भ्राँति रह गई है। अपना सुख मानो बाह्य में हो–ऐसा मानता है, इसलिए अपने सम्बन्ध में ही भ्राँति है। देव-गुरु-शास्त्र के सम्बन्ध में भ्रान्ति रह गई है–ऐसा नहीं कहा, क्योंकि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को तो माना, परन्तु अपने आत्मा सम्बन्धी भ्रान्ति कभी दूर नहीं की। पर सम्बन्धी भ्रान्ति रह गई है–ऐसा नहीं कहा; परन्तु स्व कौन? उस सम्बन्ध में भ्रान्ति रह गई है। आत्मा को भूलकर पर से लाभ मान रहा है, इसलिए उपादान स्वभाव में भ्रान्ति रह गई है; परन्तु निमित्त में भूल रह गई है–ऐसा नहीं है। अन्य प्रकार से कहा जाये तो व्यवहार सम्बन्ध में तो भूल दूर की लेकिन आत्मा का स्वभाव क्या–उसे नहीं जाना, इसलिए निश्चय सम्बन्धी भूल कभी दूर नहीं की। देव-गुरु-शास्त्र की कृपा हो जाये तो मेरे आत्मा का कल्याण हो जाये–ऐसा मानता है, वह अपने स्वरूप में भ्रान्ति है। पुण्य को आतमा का स्वरूप माने तो वह भी आत्मा के सम्बन्ध में भ्रान्ति है। जीव ने अनन्तकाल में अन्य सबकुछ किया, परन्तु आत्मा का स्वभाव क्या है–उस सम्बन्ध भ्रान्ति कभी दूर नही की है। स्वयं के सम्बन्ध में भ्रान्ति रह गई है। स्वयं यानी कौन? अपने को विकारवाला माना, वह भी भ्रान्ति है। आत्मा क्षणिक विकार जितना नहीं है, विकार रहित उसका स्वभाव है, उस स्वभाव में भ्रान्ति रह गई है। जीव ने शुभभाव अनन्तबार किये है, परन्तु भ्रान्तिरहित होकर शुद्धात्मा को कभी नहीं जाना है।

'यह एक अवाच्य-अद्भुत विचारणा का स्थल है।' वाणी से न कहा जा सके, ऐसा अद्भुत विचारणा का यह स्थल है। यहाँ आत्मस्वभाव के विचार की अपूर्वता बतलाते हैं। ऐसा क्या बाकी रह गया कि अनन्तानन्त काल बीत गया, तथापि भ्रान्ति दूर नहीं हुई? अनन्तकाल में

त्याग, व्रत आदि किये, परन्तु आत्मस्वभाव की विचारणा का स्थल बाकी रह गया है। अपने सम्बन्ध में क्या भ्रान्ति रह गई? वह एक अद्भुत विचारणा का स्थल है। अन्य सब विचारों में बुद्धिमानी की, लेकिन आत्मा की यथार्थ विचारणा कभी नहीं की। पहले आत्मस्वभाव की बात करके, फिर उसका निमित्त भी बतलायेंगे। अनन्तकाल की भ्रान्ति कैसे दूर हो –उसका उपाय बतलायेंगे।

'जहाँ मति की गति नहीं है, वहाँ वचन की गति कहाँ से होगी?' यहाँ मति अर्थात् पर की ओर उन्मुख होता हुआ ज्ञान। पर की ओर के विकल्प द्वारा भी जिस आत्मा को नहीं पहुँचा जा सकता, (प्राप्त नहीं किया जा सकता), उसे वाणी से तो कैसे कहा जा सकता है? मति अर्थात् पर की ओर के ज्ञान का विकास, अथवा परोन्मुखतावाला ज्ञान–ऐसा अर्थ यहाँ समझना चाहिए। सम्यक्मतिज्ञान द्वारा तो आत्मा ज्ञात होता है, परन्तु परोन्मुखतावाले ज्ञान के विकास द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता।

इस प्रकार पहले तो उपादान स्वभाव के ओर की बात की, अब अनन्तकाल से रह गई, उस भ्रान्ति को दूर करने क लिए और अन्तर-स्वभावोन्मुख होने के लिए क्या करना चाहिए–वह कहते हैं।

'निरन्तर उदासीनता का क्रम सेवन करना।' 'निरन्तर' कहा है। जैसे-बादाम में से तेल निकालना हो तो उसे लगातार घिसना चाहिए; थोड़ा-सा घिसकर फिर दूसरे काम में लग जाये और फिर घिसने लगे–इस प्रकार क्रम भंग कर–करके घिसे तो तैल नहीं निकलता। उसी प्रकार यहाँ निरन्तर उदासीनता का क्रम सेवन करने को कहा है। पर के ओर की रुचि कुछ कम हो तो अन्तरंग विचार की ओर ढ़ले न? यह बात नास्ति से की है। पर के प्रति वैराग्यदशा लाकर अन्तर की विचारणा में निरन्तर रुकना चाहिए।

यहाँ निरन्तर परके प्रति उदासीनता सेवन करने को कहा है; तो क्या खाना-पीना भी नहीं चाहिए?–ऐसा कोई प्रश्न करे, तो कहते हैं कि–जिस प्रकार व्यापार का लोलुपी सोता हो या खाता हो, किन्तु साथ में व्यापार की लोलुपता का भाव तो पड़ा ही है। उसी प्रकार धर्म की रुचिवाले को सोते समय भी पर के ओर की उदासीनता दूर नहीं होती; धर्म की रुचिवाला उदासीनता के क्रम में अन्तर नहीं पड़ने देता। खाना-पीना या व्यापारादि का राग वर्तता होने पर भी अन्तर की रुचि में उस सम्बन्धी उदासीनता एक क्षण भी दूर नहीं होती।

पुनःश्च, भ्रान्ति टालने के निमित्त की पहिचान कराते हैं कि–**''सत्पुरुष की भक्ति में लीन होना।''** पहले यह पहचानना चाहिए कि सत्पुरुष कौन है; पहचानने का उत्तरदायित्व अपना है। सत्पुरुष किसे कहते हैं, वह जानने का अपना भाव है। दो पैसे की हण्डी लेने जाये, वहाँ भी ठोक

बजाकर परीक्षा करता है; तो अनन्तकाल की भ्रान्ति टालकर आत्मा का कल्याण प्रगट करने के लिए सत्पुरुष की परीक्षा करके पहचान करना चाहिए। सत् अर्थात् आत्मस्वभाव, उसकी जिसे पहचान हुई है, वह सतपुरुष है। संसार के प्रति निरन्तर उदास होना और सत्पुरुष की भक्ति में लीन होना–इस प्रकार दो बातें की हैं।

फिर विशेष कहते हैं–"**सतपुरुषों के चरित्र का स्मरण करना।**" पहले जिसका ज्ञान किया हो, उसका स्मरण कर सकाता है। सतपुरुष का चरित्र किसे कहा जाता है–उसके ज्ञान बिना उसका स्मरण किस प्रकार कर सकता है? सत्पुरुष का चरित्र कहाँ रहता होगा? किसी बाह्य क्रिया में या शुभाशुभराग में सत्पुरुषों का चरित्र नहीं है। बाह्य में कुछ भी फर्क दिखायी नहीं देता, परन्तु धर्मी को अन्तर की दशा में रुचि की उन्मुखता स्वभाव की ओर हो गई है। जिसप्रकार छोटे से हीरे का मूल्य लाखों रुपया होता है–वह जौहरी ही जानता है; उसी प्रकार आत्मा का चारित्र अन्तर्दृष्टि से ही पहचाना जाता है। धर्मी आत्मा का चारित्र क्या? वह शरीर की दशा में या वस्त्रों में नहीं है, आहार-शुद्धि में या वस्त्र त्याग में भी नहीं है;–यह सब तो अज्ञानियों के भी होते हैं। सत्पुरुष के अन्तर में क्या अन्तर पड़ा है–उसे जाने बिना उनके चरित्र का ज्ञान नहीं होता। सत्पुरुष के अन्तर का चरित्र क्या? 'अमुक गाँव में रहते थे, और जवाहिरात का व्यापार करते थे, जिज्ञासुओं को पत्र लिखते थे या उपदेश देते थे'–इसमें क्या सत्पुरुष का चरित्र है? यह तो सब बाह्य वस्तु है, इसमें सत्पुरुष का चरित्र नहीं है। परन्तु अन्तर के स्वभाव को जानकर वहाँ स्थिर हुए हैं और रागादि भावों की रुचि दूर हो गई है, वही सत्पुरुषों का चरित्र है; उसे पहचाने तो उसका सच्चा स्मरण हो।

पुनः कहते हैं कि–"**सत्पुरुषों के लक्षणों का चिन्तन करना।**" 'ऐसी भाषा थी और ऐसा शरीर था।'–इस प्रकार शरीर के लक्षण से सत्पुरुष को नहीं पहचाना जाता। अन्तर स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, वह सत्पुरुष का लक्षण है। बाह्य में त्याग हुआ अथवा शुभराग हुआ–वह सत्पुरुष का यथार्थ लक्षण नहीं है। शरीर दिखायी देता है, वह देव-गुरु नहीं है, वह तो जड़ है; देव या गुरु तो आत्मा है, और अन्तर में श्रद्धा-ज्ञान-चरित्र स्वरूप है, वही उसका लक्षण है। उस लक्षण द्वारा सत्पुरुष को पहचाने तो अपना आत्मा वैसा हो।

लक्षण उसे कहते हैं कि जिसके द्वारा लक्ष्य को जाना जाता है। सत्पुरुष में ऐसा क्या लक्षण है कि जो दूसरों में न हो और मात्र उन्हीं में हो? सत्पुरुष की अन्तर की श्रद्धा-ज्ञान, वह उनका लक्षण है; रागादि हो, वह उनका लक्षण नहीं है।–इस प्रकार लक्षण द्वारा सत्पुरुष को पहचानकर उनका चिन्तवन करना चाहिए।

इस प्रकार अन्तर की बात करके अब बाह्य की बात करते हैं–**''सत्पुरुषों की मुखाकृति का हृदय से अवलोकन करना चाहिए। उनके मन-वचन-काया की प्रत्येक चेष्टा के अद्भुत रहस्यों का पुनः पुनः निदिध्यासन करना चाहिए।''** शरीर-मन-वाणी की क्रिया तो जड़ है, परन्तु उसके पीछे अनाकुलस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान है–उसका अद्भुत रहस्य है। मन-वचन-काया की जो प्रवृत्ति होती है, उसका कर्तृत्व ज्ञानी को उड़ गया है, उसे उसमें कभी सुख-बुद्धि नहीं होती और भेदज्ञान भी कभी दूर नहीं होता।–ऐसा ज्ञानी का अद्भुत रहस्य है, वह बारम्बार विचार करने योग्य है। सत्पुरुष की मुखाकृति का हृदय से अवलोकन और बारम्बार उनके समागम की भावना में अपने को सत् समझने की रुचि है।

अब कहते हैं कि–**''उन्होंने सम्मत किया हुआ सर्व सन्मत करना चाहिए।''** ज्ञानियों ने क्या सम्मत किया है? आत्मा के स्वाश्रय के अतिरिक्त तीनकाल में धर्म नहीं है, इसलिए स्वाश्रयभाव ही ज्ञानी को सम्मत है। देव-गुरु-शास्त्र का आश्रय करना, वह ज्ञानी को सम्मत नहीं है। आत्मा का रागरहित ज्ञातास्वभाव है; उसकी रुचि, श्रद्धा, ज्ञान और उसका आश्रय करना ही ज्ञानी को सम्मत है। इस प्रकार जानकर उन्होंने सम्मत किया हुआ सर्व सम्मत करना चाहिए। 'शुभ या अशुभ किसी भी पराश्रितभाव से आत्मा को धर्म होता है'–ऐसी मान्यता ज्ञानियों को सम्मत नहीं है। आत्मा को जिस भाव से हानि हो, वैसा एक भी भाव ज्ञानी को सम्मत नहीं है। ज्ञानी को आत्मा का विकाररहित स्वभाव ही सम्मत है। एक ज्ञानी एक मार्ग बतलायें और दूसरे ज्ञानी दूसरा मार्ग बतलायें–ऐसा कभी नहीं होता; सर्व सतपुरुषों का एक ही मार्ग है। आत्मस्वभाव को पहचानकर उसका आश्रय करना–यही मुक्ति का पंथ है, और इसी मार्ग में सर्व ज्ञानियों की सम्मति है।–इस प्रकार पहचान कर ज्ञानियों का सम्मत किया हुआ, सर्व सम्मत करना चाहिए। ज्ञानी के पास से श्रवण करने पर अपने को अनुकूल पड़े उतना माने, और दूसरी बात न रुचे तो उस जीव ने ज्ञानियों का कहा हुआ सर्व सम्मत नहीं किया है; परन्तु अपने स्वच्छन्द का पोषण किया है। देव-गुरु-शास्त्र के आश्रय से जो पुण्यभाव हो, उसका आश्रय करना भी धर्मी को मान्य नहीं है, किन्तु उसका आश्रय छोड़ना मान्य है। ज्ञानियों का मान्य किया हुआ सर्व मान्य करना चाहिए; उस में जो कहीं अपनी कल्पना का स्वच्छन्द रखा तो उसने ज्ञानियों को नहीं पहचाना है, तथा उनका कहा हुआ नहीं माना है। अभी तक जीव ने अपनी भ्रान्ति से ही ज्ञानी को अपनी दृष्टि से कल्प रखा है। यदि ज्ञानी को ज्ञानी की रीति से जाने तो उसे भेदज्ञान और मुक्ति हुए बिना न रहे। ज्ञानी की पहचान करने में पर की महत्ता नहीं है, परन्तु अपने आत्मा की महत्ता है। प्रथम तो अनन्तकाल से आत्मा की भ्रान्ति रह गई है–ऐसा जान ले, और फिर उपरेक्तानुसार पात्र होकर सत्पुरुष को पहचाने, तो अवश्य आत्मा की भ्रान्ति दूर हो जाये।

ज्ञानी ऐसा नहीं कहते हैं कि तू हमारा आश्रय करके रुक जा; परन्तु तू अपने आत्मा को सिद्ध की भांति परिपूर्ण स्वभावरूप जानकर उसका आश्रय कर–ऐसा ज्ञानी के हृदय का रहस्य है। सर्व धर्मात्माओं ने यही सम्मत किया है, और यही सम्मत करने योग्य–रुचिपूर्वक मान्य करने योग्य है।

''यह ज्ञानियों ने हृदय में रखा– निर्वाण के अर्थ मान्य रखने योग्य, श्रद्धा करने योग्य, पुनः पुनः चिन्तवन करने योग्य, प्रतिक्षण-प्रतिसमय लीन होने योग्य परम रहस्य है, और यही सर्व शास्त्रों का, सर्व सन्तों के हृदय का, ईश्वर के घर का मर्म पाने का महा मार्ग है।'' देखो तो सही, कितनी दृढ़तापूर्वक बात की है। धर्मी जीवों ने जो मान्य किया, वही मान्य रखना–वह परम रहस्य है। धर्मी जीवों ने क्या मान्य किया,–किस का आदर किया और क्या छोड़ा,– उसे पहचाने बिना स्वयं उसकी श्रद्धा कैसे करे? और उसका चिन्तवन भी किसप्रकार करे?

ज्ञानियों को बराबर पहचान कर, उन्होंने सम्मत किये अनुसार आत्मा के वीतरागी स्वभाव का आश्रय करना चाहिए। सर्व शास्त्रों का और सर्व सन्तों के हृदय का मर्म पाने का यह एक ही मार्ग है। निर्वाण के अर्थ-अर्थात् अपनी मुक्ति के अर्थ मान्य करने योग्य यही महा मार्ग है। और ईश्वर के घर का यानी सर्वज्ञ भगवान के मार्ग का अथवा आत्मा के स्वभाव का मर्म पाने का यह महामार्ग है। आत्मा का परमात्मपद प्रगट हो, उसका यह महामार्ग है।

अब निमित्तकारण की बात रखते हैं : और **''इस सबका कारण किन्हीं विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति और उनके प्रति अविचल श्रद्धा है। अधिक क्या लिखा जाये?''** त्रिकाल में यह एक ही मार्ग है–ऐसा भार देकर कहते हैं कि–'आज, चाहे तो कुछ समय बाद या जल्दी, यही सूझने से–इसी की प्राप्ति होने से छुटकारा है।' भाई! तुझे अपने स्वरूप की ही भ्रान्ति है, वह भ्रान्ति दूर किए बिना छुटकारा नहीं है; और इस भ्रान्ति को छेदने के लिए ज्ञानियों ने जा सम्मत किया है, वही सम्मत करना ही मार्ग है। यह मार्ग सूझने पर ही सर्व सन्तों के हृदय को पाया जा सकता है। और अन्त में विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति होना कहा है। पूर्व में हो गये सत्पुरुष नहीं परन्तु अपने को साक्षात् विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति हो और उनके वचनों को सीधा श्रवण करने से उनके प्रति अविचल श्रद्धा जागृत हो। इसमें बिना समझे सत्पुरुष को मानने की बात नहीं है, परन्तु सत्पुरुष को पहचानकर, वे कहते हैं, वैसे अपने निरावलम्बी आत्मस्वभाव को जाने– उसने सन्तों का माना हुआ मान्य किया कहलाता है और यही निर्वाण का मार्ग है।

अन्त में स्वयं मिलकर (सम्मत होकर) कहते हैं कि ''सर्व प्रदेश में मुझे तो यही सम्मत है।'' आत्मा के असंख्य प्रदेश में मुझे तो यही मान्य है।

[छाशीया ग्राम में वीर सं० २४७५ फाल्गुन वदी ६ के दिन पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

धर्मात्मा की निःशंकता

कि मे करिष्यतः क्रूरौ शुभाशुभनिशाचरौ।
रागद्वेषपरित्यागमामंत्रेणा कीलितौ॥२७॥

यह पद्मनन्दि पंचविंशतिका के एकत्व अधिकार का २८ वाँ श्लोक है। पहले २७ वें श्लोक में कहे अनुसार जिसे अपने मुक्तस्वरूप का भान हुआ है–ऐसा धर्मी जीव कहता है कि राग–द्वेष के परित्यागरूप प्रबल मन्त्र से कीलित हुए एवं क्रूर–ऐसे शुभाशुभकर्मरूपी निशाचर मेरा क्या करेंगे?–कुछ भी नहीं। यहाँ मेरे आत्मा में स्वभाव की दृष्टि से शुद्धता की फसल तैयार हो रही है, तो फिर पूर्व के बँधे हुए क्रूर मोहादि कर्मों की फसल मेरा क्या करेगी? धर्मी की दृष्टि कर्म के उदय पर नहीं है, परन्तु अपने मुक्तस्वभाव की ओर है। इससे स्वभावदृष्टि के बल से उसके कर्म खिर ही जाते हैं।

यह मनुष्य देह प्राप्त करके सत्य समझने के समय उसकी दरकार न करे और तीव्र हिंसादि क्रूर के परिणाम करे, वह जीव मरकर नरक में जाता है। नरक में महान प्रतिकूल संयोग होते हैं; परन्तु वहाँ सातवें नरक के महा-प्रतिकूल संयोगों के बीच पड़ा हुआ जीव भी किसी समय अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होने से अपूर्व आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है। उसने पहले सत्समागम से चैतन्यतत्त्व की बात सुनी हो, परन्तु उस समय उसकी दरकार न की हो; और वर्तमान में वह बात याद करके, वैराग्य प्राप्त करके स्वोन्मुख होने से आत्मा को समझ जाता है। नरक में उस जीव को पूर्व भव का स्मरण होने से वह ऐसा विचार करता है कि–अहो! मनुष्यभव में मुझे ज्ञानी मिले थे, उनके पास से मैंने चिदानन्दस्वभाव की बात सुनी थी, परन्तु उस समय मैंने दरकार नहीं की! इस प्रकार अन्तर विचार में उतरने पर संयोगदृष्टि छोड़कर, स्वभाव की दृष्टि से समझ जाता है कि–मैं मुक्तस्वरूप हूँ;–इस प्रकार वह जीव वहाँ सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। वहाँ उस जीव को क्रूर अशुभकर्म का उदय होने पर भी, वह कहता है कि पूर्व में बँधे हुए क्रूर शुभाशुभकर्म मुझे क्या करेंगे? मेरी दृष्टि अपने मुक्तस्वभाव पर पड़ी है, उस दृष्टि से मुझे छुड़ाने के लिए कोई शुभाशुभ कर्म समर्थ नहीं हैं। मैं अपने स्वभाव में जागृत हुआ, वहाँ कर्म मुझे क्या करेंगे? कर्म का विपाक जड़ में है, मेरे आत्मा में तो चैतन्य का निर्मल विपाक होता है।

यहाँ कर्मों को निशाचर कहा है। निशाचर अर्थात् रात्रि के अन्धकार में घूमनेवाले। चोर तो रात्रि के अन्धकार में हानि पहुँचाते हैं; प्रकाश में चोरों का वश नहीं चलता; उसी प्रकार शुभाशुभ

कर्म निशाचर हैं, अर्थात् जहाँ मिथ्यात्वरूपी अन्धकार हो, वहाँ वे निमित्तरूप से हानि पहुँचाते हैं—ऐसा कहा जाता है। परन्तु मेरे आत्मा में तो मिथ्यात्व-अन्धकार नष्ट होकर चैतन्य प्रकाश प्रगट हुआ है, तो वे पूर्व कर्मरूपी रात्रि के चोर मुझे कुछ भी हानि करने में समर्थ नहीं हैं। त्याग या चारित्रदशा होने के पूर्व सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की यह बात चलती है। गृहस्थपने में स्थित धर्मी को भी ऐसी दृष्टि अन्तर में होती है।

अहो! चिदानन्द प्रभु! तु ज्ञाता-दृष्टा, जगत का साक्षी; पुण्य-पाप की वृत्तियाँ भी तेरे ज्ञान का ज्ञेय है। पुण्य-पाप की वृत्तियाँ तेरे ज्ञानस्वभाव के साथ एकाकार नहीं होती। ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करके तू जागृत हुआ, वहाँ पूर्व प्रारब्धरूपी चोर तुझे क्या करेंगे?

(अपूर्व)

जिन-मन्दिर के लिए दान

सौराष्ट्र के वढ़वाण शहर में श्री दिगम्बर जैन मन्दिर और स्वाध्याय मन्दिर का निर्माण हुआ है। उनके खर्च की रकम में कुछ कमी रहती थी, उस सम्बन्ध में वढ़वाण के मुमुक्षु मण्डल की ओर से इन्दौर के सत्धर्म-प्रेमी सर सेठ हुकुमचन्दजी साहब को सूचित किये जाने पर उन्होंने उदारतापूर्वक ५०००/- रुपये की सहायता वढ़वाण के जिन मन्दिर के लिए अर्पण की है। इसके लिए उनका आभार।

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द, मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

1- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

2- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-(अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-(अमरेली)